बीच में ही कॉलेज क्यों छोड़ते हैं छात्र?

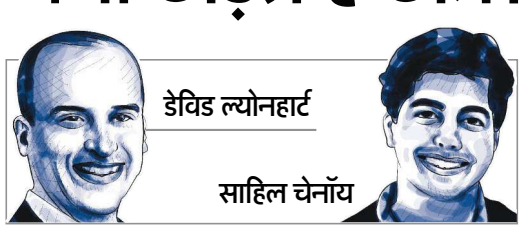

डेविड ल्योनहार्ट
साहिल चेनॉय

© The New York Times 2019

अमेरिका में कॉलेजों में दाखिला लेने वाले हर तीन छात्रों में से एक डिग्री हासिल नहीं कर पाता। कॉलेज ड्रॉपआउट की इस समस्या को उच्च शिक्षा संस्थानों और शिक्षाशास्त्रियों ने गंभीरता से लिया है। छात्रों को भी अब उन कॉलेजों में दाखिला लेने के लिए प्रोत्साहित किया जा रहा है, जिनकी ग्रेजुएशन दर अधिक है।

अमेरिका की उच्च शिक्षा व्यवस्था में कॉलेज ड्रॉप आउट की समस्या गहराती जा रही है। यहां कॉलेज में दाखिला लेने वाले हर तीन छात्रों में एक छात्र डिग्री हासिल नहीं कर पाता। दरअसल जिन स्कूलों में ज्यादातर एक ही जैसे छात्र पढ़ते हैं, उन छात्रों के ग्रेजुएशन की दर में भिन्नता पाई जाती है। इसका अर्थ यह है कि समस्या छात्रों में नहीं, स्कूलों में है। हमने कुल 368 कॉलेजों के स्नातक दर की तुलना की, तो नतीजे चौंकाने वाले आए। वेस्टर्न केंटुकी और द यूनिवर्सिटी ऑफ नेवाडा, लास वेगास (यूएनएलवी) की बात करें, तो दोनों ही जगह छह साल के ग्रेजुएशन की औसत दर 60 प्रतिशत है। पर गहराई से देखें, तो यूएनएलवी में स्नातक की दर वेस्टर्न केंटुकी से 19 प्रतिशत कम है। इसे ज्यादा समझाकर कहें, तो अर्थ यह निकलेगा कि यूएनएलवी से हर साल 500 ड्रॉप आउट अधिक निकलते हैं। अगर खराब प्रदर्शन करने वाले स्कूल अच्छे अंक लाने वाले छात्रों से सीखें, तो हर साल अतिरिक्त हजारों छात्र स्नातक हो सकते हैं।

द न्यूयॉर्क टाइम्स और द अर्बन इंस्टीट्यूट'स सेंटर ऑन एजुकेशन डाटा ऐंड पॉलिसी ने इस परियोजना को अपने हाथ में लिया, क्योंकि ड्रॉपआउट संकट ही अंततः असमानता को बढ़ावा देता है। कम और मध्य आय वाले अनेक छात्र स्कूलों में शानदार प्रदर्शन करते हैं, लेकिन कॉलेजों में फिसड्डी साबित होते हैं। शोध अध्ययन यह भी बताते हैं कि डिग्री हासिल न करने वाले अमेरिकी कम कमाते हैं और स्वास्थ्य तथा खुशहाली के मानक पर खरे नहीं उतरते।

लंबे समय तक हाई स्कूल के छात्र, अभिभावक और छात्रों को दिशा-निर्देश देने वाले काउंसिलर कॉलेज चुनते वक्त उसकी ग्रेजुएशन दर पर ध्यान नहीं देते थे। लेकिन अब लोग इसका महत्व समझने लगे हैं। लास एंजेलिस स्थित चार्टर स्कूलों का एक नेटवर्क एलायंस विभिन्न कॉलेजों की ग्रेजुएशन दर के आधार पर उनकी रैंकिंग बनाता है। फिर वह छात्रों को उन कॉलेजों में प्रवेश लेने के लिए प्रोत्साहित करता है, जिनकी ग्रेजुएशन दर अधिक है। एलायंस की चीफ एडवांसमेंट ऑफिसर कैथरीन सूटर कहती हैं, 'गरीबी के चक्र को खत्म करने और बेहतर बदलाव के लिए स्नातक की डिग्री से प्रभावी हथियार और कुछ नहीं है।'

स्नातकों की दर का गहराई से आकलन करने के लिए हमने छात्रों की आय, नस्ल, लिंग, उम्र और टेस्ट स्कोर का विश्लेषण किया। हमने यह पाया कि जो कॉलेज निम्न आय वाले, अश्वेत और लैटिनो, पुरुष, अधिक उम्र वाले और कम स्कोरिंग वाले छात्रों को अधिक दाखिला देते हैं, उन कॉलेजों की स्नातक दर कम रहती है। दूसरी ओर, उन कॉलेजों की स्नातक दर अधिक होती है, जो दाखिले में विविधता को वरीयता देते हैं। सदर्न कैलिफोर्निया स्थित यूनिवर्सिटी ऑफ ला वर्नी, बहुचर्चित अश्वेत कॉलज नॉर्थ कैरोलिना सेंट्रल, वर्जीनिया टेक और स्टेट यूनिवर्सिटी ऑफ न्यूयॉर्क की कई शाखाओं की ग्रेजुएशन दर बेहद प्रभावित करती है।

कुछ कॉलेज दूसरे कॉलेजों की तुलना में अच्छा प्रदर्शन क्यों करते हैं? इसका एक कारण है कॉलेजों का ढांचा। वही छात्र अच्छा प्रदर्शन कर सकते हैं, जो एक निश्चित लक्ष्य के साथ पढ़ाई करते हैं। अमेरिका में कई उच्च शिक्षा संस्थान हैं, जहां उन्हीं छात्रों को प्रवेश मिलता है, जिनकी खास विषयों में रुचि हो। इसके विपरीत जो छात्र कॉलेजों में उद्देश्यहीन तरीके से एक के बाद दूसरी क्लास में जाते हैं, वे डिग्री के बारे में बहुत गंभीर नहीं होते। ऐसे ही जो कॉलेज शिक्षा के प्रति गंभीर होते हैं, छात्रों की जिज्ञासाओं का नियमित समाधान करते हैं और बौद्धिकों के साथ संवाद करने का उन्हें अवसर देते हैं, उन कॉलेजों की ग्रेजुएशन दर अधिक होती है। इसी तरह उन कॉलेजों की स्नातक दर अधिक होती है, जहां छात्रों के लिए आवासीय सुविधा होती है। 'कॉलेज कैंपस में रहने का लाभ यह होता है कि कॉलेज के तमाम संसाधन हमेशा छात्रों की पहुंच में होते हैं,' जेसिका बर्ली कहती हैं, जो इसी साल ग्रेजुएट हुई हैं।

ग्रेजुएशन की दर बढ़ाने का एक प्रभावी तरीका यह है कि ट्यूशन खर्च के अलावा छात्रों के आवास का खर्च भी वहन किया जाए। यूनिवर्सिटी ऑफ वर्जीनिया में प्रोफेसर बेन कैस्लमैन के मुताबिक, अध्ययन से भी यह साबित हो चुका है कि छात्रों को वित्तीय मदद देने से ग्रेजुएशन की दर बढ़ती है। उनके मुताबिक, कॉलेज ड्रॉपआउट की सबसे बड़ी वजह आर्थिक दबाव है। ला वर्नी ने अपने वरिष्ठ लेकिन गरीब छात्रों के लिए अगले वर्ष 10 लाख डॉलर की आर्थिक मदद का लक्ष्य रखा है। नॉर्थ कैरोलिना सेंट्रल भी छात्रों की आर्थिक मदद करता है। हालांकि ट्रॉय जैसे कॉलेज भी हैं, जिनका बजट कम होने के बावजूद ग्रेजुएशन की दर प्रभावशाली है। हॉस्टन विश्वविद्यालय पहले ड्रॉपआउट छात्रों की बड़ी संख्या के लिए जाना जाता था। लेकिन पिछले एक दशक में इसकी ग्रेजुएशन दर 20 फीसदी बढ़कर 65 प्रतिशत हो गई है। इसकी अध्यक्ष रेणु खट्टर कहती हैं, स्नातक दर में बढ़ोतरी हमारे एजेंडे में सबसे ऊपर है।

वॉल्टर एंडर्सन
प्रोफेसर, जॉन हॉपकिंस यूनिवर्सिटी

तीन दशक में कितना बदल गया आरएसएस

भारत का सबसे प्रभावशाली एनजीओ राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ (आरएसएस) तेजी से आगे बढ़ा है, जैसा कि मैंने अपनी हाल ही में आई किताब, *द आरएसएस : ए व्यू टू द इनसाइड* (सह लेखक श्रीधर दामले) में चर्चा की है। यह किताब तीन दशक पहले आई मेरी एक अन्य किताब *द ब्रदरहुड इन सेफ्रॉन* की अगली कड़ी है, जिसमें मैंने उसके बाद भारत में हुए सामाजिक आर्थिक बदलावों के साथ ही आरएसएस में आए परिवर्तनों का विश्लेषण किया है।

आखिर आरएसएस में तीस साल में क्या बदलाव आया और ये बदलाव क्यों महत्वपूर्ण हैं? सबसे स्वाभाविक बदलाव तो यही है कि आरएसएस और उससे संबद्ध संगठन उस समय हाशिये पर थे और भारत से बाहर उनके बारे में बहुत कम पता था और भारत के भीतर भी उनके बारे में कम जानकारियां थीं। इसमें नाटकीय बदलाव आया है। खासतौर से 1990 के दशक के मध्य में आरएसएस और उसके पारिवारिक संगठनों ने तेजी से विस्तार किया है, यह वही दौर था जब सुधारों के बाद भारतीय अर्थव्यवस्था का विस्तार हुआ।

इसका सबसे दिलचस्प पहलू है तकरीबन सौ आनुषांगिक संगठनों का गठन और उनके विस्तार जिन्होंने परोक्ष रूप से देश के सभी हिस्सों में पैठ बनाई और खासतौर से पूर्व और पूर्वोत्तर में तेजी से विस्तार किया, जहां पहले उनकी स्थिति कमजोर थी। इन संगठनों में भारत का सत्तारूढ़ दल भारतीय जनता पार्टी (भाजपा), सबसे बड़ा श्रम संगठन भारतीय मजदूर संघ (बीएमएस), इसका विशाल छात्र संगठन विद्यार्थी परिषद और गैरसरकारी स्कूलों की सबसे बड़ी श्रृंखला। हमने जो नौ केस स्टडी की उसका एक निष्कर्ष यह निकला कि इन संबद्ध संगठनों ने उनसे जड़े मुद्दों को लेकर आरएसएस के दृष्टिकोण को आकार दिया।

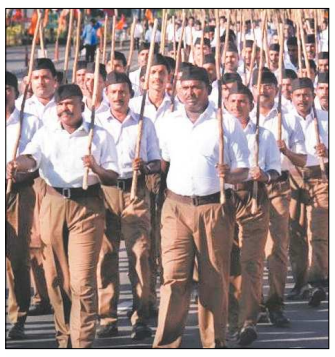

खासतौर से 1990 के दशक के मध्य में आरएसएस और उसके पारिवारिक संगठनों ने तेजी से विस्तार किया है, यह वही दौर था जब सुधारों के बाद भारतीय अर्थव्यवस्था का विस्तार हुआ।

दूसरा बड़ा बदलाव नीति निर्धारण प्रक्रिया में भूमिका निभाने के लिए लॉबिइंग के वास्ते अपने संबद्ध संगठनों पर आरएसएस की बढ़ती निर्भरता। 2009 में आरएसएस का नेतृत्व संभालने के बाद से मोहन भागवत संगठन के 93 साल के इतिहास में सबसे मुखर और राजनीतिक प्रमुख के रूप में उभरे हैं। उन्होंने 2018 में तीन भाषण दिए जिन्होंने असाधारण परिणाम का मार्ग प्रशस्त किया और आरएसएस के घोषित मिशन को बदल दिया। अब शाखा में युवाओं को प्रशिक्षित करना इसका बुनियादी लक्ष्य नहीं रहा ताकि वे देश को आगे बढ़ाने के लिए खुद से देशभक्ति के काम में जुट जाएं। अब खुद संगठन विशेष नीतिगत पदों के लिए लॉबी करने लगा। एक संगठन जो राजनीति और प्रचार से दूर रहता था और अक्सर सांस्कृतिक संगठन होने का दावा करता था, भागवत ने उसपर ढका पर्दा हटा दिया। इसके बाद आरएसएस के पूर्व प्रचार प्रमुख और अब भाजपा के महासचिव राम माधव ने एक आलेख लिखकर बताया कि सितंबर, 2018 में भागवत ने दिल्ली में जो तीन दिन का सेमिनार आयोजित किया था उसका मकसद भारत के बुद्धिजीवियों से यह अपील करना था कि वह जानें कि आरएसएस क्या है और वह भारत के लिए अच्छा क्यों है। उन्होंने आगे लिखा कि अतीत में आरएसएस के नेताओं ने प्रचार से खुद को दूर रखा और उनके इस पहले के दृष्टिकोण के कारण आरएसएस के बारे में अफवाहों को बल मिला। उन्होंने भागवत के प्रयासों को सोवियत संघ की 'ग्लासनोस्त' जैसी पहल की तरह बताया और कहा कि यह आरएसएस के लिए अच्छा है।

तीसरा बदलाव है आरएसएस और उसके संबद्ध संगठनों में व्यापक पारदर्शिता, हम यह मानते हैं कि यह भारतीय मंच पर उनकी बढ़ती भूमिका को प्रतिबिंबित करता है। उदाहरण के लिए, उन तीनों आयोजनों में आम लोगों को भी आमंत्रित किया गया था और ऐसा करते हुए भागवत ने अपने प्रतिबद्ध लोगों को संबोधित करने की परिपाटी को तोड़ा। इसके बाद अक्तूबर में हरिद्वार में एक दिन का सम्मेलन हुआ था और फिर नागपुर में दशहरे पर वार्षिक कार्यक्रम। भागवत ने इसमें अयोध्या में प्रस्तावित राम मंदिर, राष्ट्रीय जनसंख्या नीति की व्यावहारिकता, कृषि उत्पादों का समर्थन मूल्य, ईसाइयों और मुस्लिमों के प्रति समान भारतीय नागरिकों जैसा व्यवहार करने की बात की और आने वाले विधानसभा चुनावों तथा लोकसभा चुनाव में भाजपा के पक्ष में वोट डालने की अपील भी की। उन्होंने लोगों से यह भी कहा था कि वे नोटा का विकल्प न चुनें ताकि भाजपा की जीत की संभावनाएं बढ़े।

चौथा बदलाव है नीतिगत प्रक्रिया में आरएसएस के पारिवारिक संगठनों की सीधी भूमिका। उदाहरण के लिए, आरएसएस के संबद्ध संगठन भारतीय किसान संघ ने समर्थन मूल्य में पानी, बिजली और खाद की लागत को भी जोड़ने की बात की और ग्रामीण स्कूलों के पाठ्यक्रम में बदलाव का सुझाव दिया।

पांचवा बदलाव है विशाल संघ परिवार के विभिन्न हितों के बीच समन्वय में आरएसएस की बढ़ती भूमिका। हमारा निष्कर्ष है कि संघ परिवार में एकता का संबंध तीन चीजों से है। पहली बात, दर्जनों सहयोगी संगठनों यहां तक कि संघ के पदाधिकारी भी पूर्ण कालिक कार्यकर्ता यानी प्रचारक होते हैं। दूसरी बात है देश भर में फैले 70 हजार शाखाओं में होने वाला प्रशिक्षण जिसमें 20 लाख नियमित प्रतिभागी होते हैं। तीसरी चीज है, संबद्ध संगठनों को दी गई स्वायत्तता।

ग्रामीण और शहरी भारत में आर्थिक और सांस्कृतिक विभाजन उस हिंदू एकता की राह में सबसे बड़ा रोड़ा है, जिसकी बात आरएसएस करता है।

गोडसे का महिमामंडन

स्वतंत्रता संघर्ष में गांधी की भूमिका को कमतर करते हुए आरएसएस ने सावधानीपूर्वक गोडसे से भी दूरी बनाई। लेकिन अब ऐसा नहीं हो सकता। इस बार चुनाव में मिली भारी जीत से उपजे अहंकार में उनकी वास्तविक भावनाएं ऐसा लगता है कि स्वयं प्रकट हो रही हैं।

रामचंद्र गुहा
जाने-माने इतिहासकार

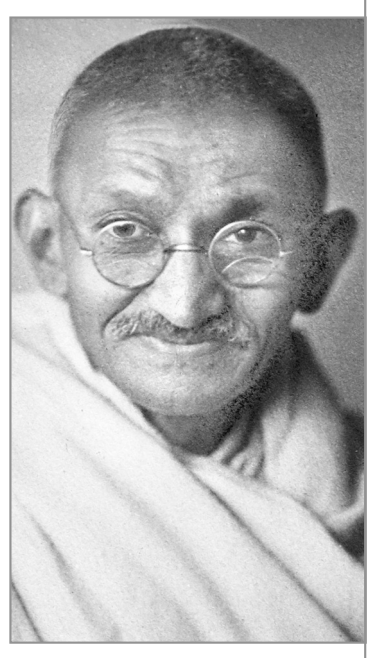

उन्नीस सौ नब्बे के दशक की शुरुआत में बुजुर्ग गांधीवादी डॉ सुशीला नायर सांप्रदायिक सौहार्द बढ़ाने के अभियान में मंदिरों के शहर अयोध्या में थीं। उसी दौरान एक सर्व धर्म प्रार्थना सभा में उनकी अगुआई में महात्मा गांधी के प्रिय भजन 'रघुपति राघव राजा राम' का गायन हुआ। जैसे ही उन्होंने भजन की अगली पंक्ति 'ईश्वर अल्ला तेरो नाम' को दोहराया, प्रदर्शनकारियों का एक समूह मंच पर चढ़ गया और उसने गायन रुकवा दिया। डॉ नायर ने उन्हें समझाने की कोशिश करते हुए कहा, 'हम गांधीजी की तरफ से आए हैं।' प्रदर्शनकारियों ने जवाब दिया, 'और हम गोडसे की तरफ से।'

उसके बाद और आने वाले कई वर्षों तक टिप्पणीकार मानते रहे कि नाथूराम गोडसे की पूजा करने वाले लोगों की संख्या काफी कम है और वे अप्रासंगिक हैं। लेकिन लगता है कि हालात बदल गए हैं। पिछली लोकसभा के सदस्य साक्षी महाराज ने गोडसे की प्रशंसा की थी और इस बार वह फिर भाजपा उम्मीदवार के रूप में निर्वाचित हुए हैं। इस चुनाव में भोपाल से भाजपा उम्मीदवार प्रज्ञा ठाकुर ने गोडसे की प्रशंसा की। हालांकि प्रधानमंत्री ने उनके बयान से दूरी बनाई, लेकिन पूरे भारत भर में अनेक भाजपा उम्मीदवारों ने तुरंत उनके बयानों का समर्थन किया। उल्लेखनीय है कि सारे गोडसे भक्तों ने चुनाव जीता है और वह भी भारी अंतर से।

नाथूराम गोडसे का मत अब हाशिये पर नहीं है, बल्कि मुख्यधारा में है। इसके सदस्यों में न केवल भाजपा सांसद हैं, बल्कि अनेक प्रमुख संघ विचारक भी हैं। हाल ही में एक टेलीविजन बहस के दौरान जाने-माने गुजराती लेखक विष्णु पांड्या ने प्रज्ञा ठाकुर को एक संत बताया और कहा कि वह उससे कम नहीं हैं। महात्मा के हत्यारे की उनके द्वारा की गई प्रशंसा के बारे में पांड्या ने कहा, 'गोडसे एक देशभक्त थे और जैसा कि गांधी भी थे।' उल्लेखनीय है कि पांड्या कोई आरएसएस के साधारण कार्यकर्ता नहीं हैं; वह पद्मश्री से सम्मानित हैं और गुजरात साहित्य अकादमी के मौजूदा अध्यक्ष हैं।

महात्मा के जीवनकाल में, उनके प्रति हिंदुत्व की घृणा के दो पक्ष थे; उन्होंने उनकी अहिंसा को कमजोर और पुरुषार्थहीन माना और उन्होंने मुसलमानों के लिए समान अधिकार मांगने का विरोध किया। हाल ही में इस वैमनस्य में एक पहलू और जुड़ गया; यह है उनके द्वारा वल्लभभाई पटेल के बजाय जवाहरलाल नेहरू को अपना राजनीतिक उत्तराधिकारी घोषित किया जाना। जब तक नेहरू जीवित थे दक्षिणपंथी हिंदू खासतौर से उन्हें इसलिए नापसंद करते थे, क्योंकि गांधी की तरह उन्होंने भी भारत को पाकिस्तान के ठीक उलट हिंदू राज्य बनाए जाने की कोशिशों का दृढ़ता से विरोध किया; उनकी मौत के बाद वे नेहरू को वंशवाद के कारण नापसंद करते हैं, जो (अवैध तरीके से) उनकी विरासत पर दावा करता है।

विभाजन के लिए कोई एक व्यक्ति जिम्मेदार नहीं था; विभाजन के जख्मों को गांधी से अधिक किसी और ने भरने का प्रयास नहीं किया; पटेल और नेहरू साथी थे, प्रतिद्वंद्वी नहीं; कोई सभ्य समाज धर्म के आधार पर भेदभाव नहीं करता — इन सारे तथ्यों को हिंदू दक्षिण पंथ की इतिहास की विकृत और मनोविकार से ग्रस्त समझ ने या तो दबा दिया या फिर उसे खारिज कर दिया।

आरएसएस ने महात्मा के जीवन के अंतिम वर्ष में विशेष रूप से सार्वजनिक तौर पर उनके खिलाफ घृणा फैलाई। (इस बारे में गांधी की जीवनी में मैंने विस्तार से लिखा है)। आरएसएस के एक पूर्व कार्यकर्ता द्वारा उनकी हत्या किए जाने के बाद वे शांत हो गए। 1950 और 1960 के दशक में उन्होंने यदा-कदा ही उनका जिक्र किया। 1970 के दशक के बाद उन्होंने उनकी प्रशंसा करनी शुरू कर दी, हालांकि धीमे स्वरों में। उनके लिए वह अब एक देशभक्त थे, हालांकि अनेक देशभक्तों में से एक। लेकिन वह खुद को उन्हें उस यादगार संबोधन के लिए तैयार नहीं कर पाए जैसा कि सुभाष चंद्र बोस ने उन्हें कहा था : राष्ट्रपिता।

स्वतंत्रता संग्राम में गांधी की भूमिका को कमतर करते हुए आरएसएस ने सावधानीपूर्वक गोडसे से भी दूरी बनाई। लेकिन अब ऐसा नहीं हो सकता। इस बार चुनाव में मिली भारी जीत से उपजे अहंकार में उनकी वास्तविक भावनाएं ऐसा लगता है कि स्वयं प्रकट हो रही हैं।

इसीलिए विष्णु पांड्या टिप्पणी करते हैं, 'गोडसे एक देशभक्त था और जैसा कि गांधी भी थे।' यहां महात्मा गांधी को उनके हत्यारे के बराबर कर दिया गया जिसमें हत्यारे की देशभक्ति का जिक्र पहले किया गया। यह आरएसएस का दृष्टिकोण है। गांधी एक देशद्रोही थे, और गोडसे एक देशभक्त था, वास्तव में महान देशभक्त, क्योंकि उसने एक देशद्रोही को खत्म किया। व्हाट्सअप के जरिये बड़ी संख्या में फॉरवर्ड हो रहे संदेशों में यह दृष्टिकोण अंतर्निहित है और खासतौर से उत्तर भारत में चर्चाओं में यह दृष्टिकोण व्यापक रूप से फैल चुका है कि गोडसे ने न केवल गांधी की हत्या कर ठीक किया था, बल्कि उसे उनकी हत्या पहले कर देनी चाहिए थी, महात्मा के आखिरी उपवास से पहले जब उन्होंने भारतीयों से उन मुस्लिमों को समान अधिकार देने की अपील की थी, जिन्होंने इस देश में, जो कि उनका अपना देश था, रहकर अपनी देशभक्ति प्रकट की थी। आरएसएस शायद स्पष्ट तौर पर स्वीकार न करे, लेकिन कट्टरपंथी हिंदुत्ववादी नजरिया स्पष्ट है : गांधी असली 'राष्ट्र विरोधी' थे, क्योंकि उन्होंने विभाजन नहीं रोका, क्योंकि उन्होंने भारत से पाकिस्तान को धन लौटाने के लिए कहा, जो कि भारत पर बकाया था, क्योंकि वह मुस्लिमों (और ईसाइयों) से वैसा ही प्रेम करते थे जैसा कि हिंदुओं से। जिस व्यक्ति ने ऐसे राष्ट्र विरोधी को खत्म किया उसे सच्चा देशभक्त होना चाहिए।

जो लोग गांधी का विरोध करते हुए गोडसे की वंदना करते हैं, वे अब संसद में बैठेंगे, उन्हें ऐसे भारतीयों ने भेजा है जो उनके विचारों को अपने अनुकूल पाते हैं। यह सब गांधी के 150 वें जन्म वर्ष में हो रहा है और इस भयावहता, क्रूरता और विडंबना के साथ हमें रहना है।

मैंने इस लेख की शुरुआत 1990 के दशक में अयोध्या में गोडसे के कुछ उपासकों से की थी। जिस सामाजिक कार्यकर्ता ने मुझे यह कहानी बताई थी उन्होंने यह भविष्यवाणी भी जोड़ी थी : भारतीयों ने एक बार बुद्ध को बाहर फेंका और हम गांधी के साथ भी ऐसी ही करेंगे। इसके पच्चीस साल बाद गोडसे के उपासकों की संख्या हजारों में नहीं लाखों में हो चुकी है। उनके प्रतिनिधि संसद में बैठ रहे हैं और शायद मंत्रिपरिषद में भी हों।

भारत ने बुद्ध को बेदखल किया, क्योंकि हमने उनके सामाजिक बराबरी के विचार को सामाजिक पदानुक्रम के हमारे प्रेम के उलट पाया। अब अनेक भारतीय गांधी को बेदखल करना चाहते हैं, क्योंकि वे उनके विभिन्न आस्थाओं के बीच सद्भाव के विचार को अपने बहुलतावादी कट्टरता के उलट पाते हैं। शायद यह हमें बाकी दुनिया के लिए छोड़ देना चाहिए कि वह गांधी को स्वीकार करें जैसा कि उन्होंने बुद्ध को स्वीकार किया।

दीवार पर लिखा पढ़ नहीं पाई कांग्रेस

कांग्रेस कार्य समिति से अनेक कद्दावर नेताओं को बाहर करना पार्टी के लिए भारी पड़ गया। जिन राज्यों में कांग्रेस कमजोर हुई, वहीं के शिखर राजनेताओं को निकाले जाने से वे चुनाव के प्रति उदासीन हो गए।

कांग्रेस और उसके सहयोगी भले सदमे में हों, लेकिन उनकी पराजय की वजहें किसी अलीगढ़ी ताले में बंद नहीं हैं। मीडिया का एक वर्ग काफी हद तक इन परिणामों से वाकिफ था। हां, इस विराट एकपक्षीय जीत का अंदाज उसे नहीं था। लेकिन राजनीति की समृद्ध विरासत लिए एक खांटी परिवार को हकीकत का पूर्वानुमान नहीं रहा हो, यह हैरत की बात है।

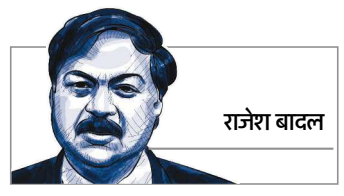

राजेश बादल

कांग्रेस अध्यक्ष राहुल गांधी ने चुनाव प्रचार अभियान के दौरान चौकीदार चोर है का नारा बुलंद किया। इस नारे ने फायदे के बजाय पार्टी को नुकसान ही अधिक पहुंचाया। राजनीतिक अभियानों में निजी और कमर से नीचे के हमले कांग्रेस के प्रचार का हिस्सा कभी नहीं रहे। इस तरह के आक्रमण अधिकतर प्रतिपक्ष ने किए हैं और इनका लाभ कांग्रेस को ही मिला है। वर्ष 1979-80 के चुनाव में इंदिरा गांधी के खिलाफ चरित्र हनन के सारे भौंडे तरीके इस्तेमाल किए गए थे। पर इंदिरा गांधी की सत्ता में शानदार वापसी हुई। 1990-91 के आम चुनाव में राजीव गांधी के विरुद्ध घटिया नारा उछाला गया। लेकिन कांग्रेस की वापसी हुई। वर्ष 2004 के चुनाव में सोनिया गांधी पर निजी हमले किए गए। नतीजतन अटल बिहारी वाजपेयी जैसे शिखर राजनेता की सत्ता चली गई। ये तीन उदाहरण राहुल गांधी के सामने थे। इसके बाद भी चौकीदार चोर है का नारा लगता रहा।

जून, 2018 में कांग्रेस कार्य समिति से अनेक कद्दावर और जनाधार वाले नेताओं को बाहर का दरवाजा दिखाना पार्टी के लिए भारी पड़ गया। जिन राज्यों में कांग्रेस हालिया दौर में कमजोर हुई, उन्हीं प्रदेशों के शिखर राजनेताओं को कार्य समिति से निकाले जाने से वे लोकसभा चुनाव में एक तरह से उदासीन थे। हिमाचल प्रदेश से वीरभद्र सिंह, कश्मीर से कर्ण सिंह, राजस्थान से सी पी जोशी, मोहन प्रकाश, मध्य प्रदेश से दिग्विजय सिंह, कर्नाटक से ऑस्कर फर्नांडिस, बी के हरिप्रसाद, महाराष्ट्र से सुशील कुमार शिंदे, पंजाब से आर के धवन (तब उनका निधन नहीं हुआ था), उत्तर प्रदेश से जनार्दन द्विवेदी और मोहसिना किदवई को बाहर किया गया। जब सिर पर लोकसभा चुनाव हों, तब अपने दल के क्षेत्रीय सितारों को बाहर करना दूरदर्शिता नहीं। पार्टी के इन तपे-तपाए नेताओं की पूंजी उनका अनुभव ही था। उन्हें पार्टी राज्यपाल, केंद्रीय मंत्री और मुख्यमंत्री तो नहीं बना सकती थी, लेकिन कार्यसमिति में बनाए रखकर चुनाव में उनका सक्रिय सहयोग ले सकती थी।

अनेक साल से कांग्रेस के सदस्यता अभियान और जिला इकाइयों की साल भर चलने वाली गतिविधियों पर जैसे रोक लगी हुई है। सालाना सदस्यता शुल्क अधिक नहीं होता, लेकिन उसके बहाने स्थानीय स्तर पर समाज की सोच का फीडबैक जरूर मिलता था। कितने जिलों में कांग्रेस कार्यालय बचे हैं, वहां नियमित गतिविधियों को संगठन किस तरह मॉनिटर करता है, कोई नहीं जानता। जिला, तहसील और पंचायत स्तर पर जुड़े कांग्रेस कार्यकर्ता के रोजगार का ज़रिया क्या है, संगठन ने कभी जानने का प्रयास नहीं किया। कांग्रेस सेवा दल अब क्या करता है, किसी को खबर नहीं। युवा कांग्रेस तथा भारतीय राष्ट्रीय छात्र संगठन की गतिविधियां जैसे थम गई हैं।

आजादी के आंदोलन में जन-जन के दिल में धड़कने वाली कांग्रेस अब मैदान में मुर्दा-सी पड़ी है। उसमें सांस फूंकने का काम अकेले राहुल गांधी का नहीं, पार्टी के उन लाखों-करोड़ों लोगों का भी है, जो वैचारिक आधार पर इस दल से जुड़ाव महसूस करते हैं।

मीडिया से खिंचाव भरा रिश्ता भी कांग्रेस के लिए अच्छा नहीं रहा। मीडिया कमेटी के पदाधिकारी मैदान में कहीं नजर नहीं आए। मध्य प्रदेश में तो विधानसभा चुनाव के बाद ही प्रादेशिक टीवी चैनलों और अखबारों के विज्ञापन बंद कर दिए गए थे। यहां तक कि स्वतंत्र पत्रकारों की अधिमान्यता तक आचार संहिता का बहाना बनाकर रोक दी गई। अनेक राज्यों में मीडिया के साथ कांग्रेस नेताओं ने दूरी बनाकर रखी थी। मीडिया के साथ बने फासले ने पत्रकारों के एक वर्ग को स्वाभाविक रूप से भाजपा की तरफ मोड़ दिया। यह सब जानते हैं कि मीडिया के साथ समन्वय कांग्रेस की खासियत रहा है। लेकिन इस बार यह सब नदारद था।

जंग के मैदान में ऑटोमैटिक राइफल का मुकाबला तलवारों से नहीं किया जा सकता। इस बार की कांग्रेस कुछ ऐसी ही थी। उम्मीदवारों का चुनाव तथा अंदरूनी कलह की पुरानी बीमारी से पार्टी का न उबर पाना भी पराजय का एक कारण था। नए चेहरों को मैदान में उतारने का जोखिम भी था। लेकिन इन चेहरों ने अपने को 10, जनपथ का प्रवक्ता समझना शुरू कर दिया। उनके पूरे व्यवहार में एक किस्म का सामंती भाव था,जो यह प्रदर्शित कर रहा था कि इस बार उन्हें जिताना मतदाताओं का कर्तव्य है। उनके व्यवहार में बुनियादी शिष्टाचार भी नहीं था। इससे कांग्रेस के निष्ठावान कार्यकर्ता और बुजुर्ग कांग्रेसी आहत थे। वरिष्ठ कांग्रेसी अपनी नई पौध से त्रस्त नजर आए। लगातार दो शर्मनाक पराजयों से कांग्रेस क्या कोई सबक़ लेगी या फिर अपना राजसी आलस ओढ़े इस बात का इंतजार करेगी कि कब चक्रवर्ती नरेंद्र मोदी के खिलाफ यह देश बगावत करे और वह सत्तासीन हो!